00_intro:Layout 1 5/7/2014 2:49 PM Page i

# प्रतिमान

## समय समाज संस्कृति

00_intro:Layout 1 5/7/2014 2:49 PM Page ii

# प्रतिमान
## समय समाज संस्कृति

**जनवरी-जून, 2014 ( वर्ष 2, खण्ड 2, अंक 1 )**

समाज-विज्ञान और मानविकी की पूर्व-समीक्षित अर्धवार्षिक पत्रिका

प्रधान सम्पादक
**अभय कुमार दुबे**

सम्पादक
**आदित्य निगम, रविकांत, राकेश पाण्डेय**

सम्पादकीय प्रबंधन (मानद)
**कमल नयन चौबे**

**सम्पादकीय सलाहकार :** धीरूभाई शेठ, राजीव भार्गव, विजय बहादुर सिंह, नामवर सिंह, राधावल्लभ त्रिपाठी, शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी, सुधीर चंद्र, शाहिद अमीन, विवेक शानबाग, किरण देसाई, सतीश देशपाण्डे, गोपाल गुरु, हरीश त्रिवेदी, शैल मायाराम, विश्वनाथ त्रिपाठी, फ्रांचेस्का ऑर्सीनी, निवेदिता मेनन, मैनेजर पाण्डेय, योगेंद्र यादव, आलोक राय, उज्ज्वल कुमार सिंह और संजय शर्मा

डिज़ाइन : **मृत्युंजय चटर्जी**
सम्पादकीय सहयोग : **नरेश गोस्वामी, मनोज मोहन**
कम्पोज़िंग : **चंदन शर्मा**

CSDS **भारतीय भाषा कार्यक्रम**
विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस)
29, राजपुर रोड, दिल्ली-110054 फोन : 91.11. 23942199
ईमेल : pratiman@csds.in; वेबसाइट : www.csds.in/pratiman

\+

21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002 फोन : 91.11.23273167, 23275710
ईमेल : vaniprakashan@gmail.com; वेबसाइट : www.vaniprakashan.in

यहाँ प्रकाशित रचनाओं का सर्वाधिकार रचनाकारों के पास है, जिसके शैक्षणिक और ग़ैर-व्यावसायिक इस्तेमाल के लिए प्रकाशक से इजाज़त लेने की ज़रूरत नहीं है। अलबत्ता, लेखक /प्रकाशक को इत्तला कर दें तो उन्हें बेहद ख़ुशी होगी।

सेंटर फॉर द स्टडी ऑफ़ डिवेलपिंग सोसाइटीज़, 29, राजपुर रोड, दिल्ली-110054 के निदेशक राजीव भार्गव के लिए प्रकाशक एवं मुद्रक अमिता माहेश्वरी, वाणी प्रकाशन, 21-ए, 4695, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002 द्वारा प्रकाशित और ऑप्शन प्रिंटोफास्ट, 41, पटपड़गंज इंडस्ट्रियल एरिया, दिल्ली-110092 में मुद्रित। सम्पादक : अभय कुमार दुबे

00_intro:Layout 1 5/7/2014 2:49 PM Page iii

# अनुक्रम


**सम्पादकीय : मतदाताओं का संसार और सामाजिक लोकतंत्र** v

**सामयिकी**

**जनतंत्र और जनवाद के बीच : कुछ सैद्धांतिक सवाल** / *आदित्य निगम* 1

**संवाद / चुनाव, सेफ़ोलॉजी और समाजशास्त्र**

**आधुनिकता और लोकतंत्र की द्वंद्वात्मकता** / *धीरूभाई शेठ* 23

**बाज़ारू शोध बन कर रह गयी है सेफ़ोलॉजी** / *योगेश अटल* 37

**चुनाव और हमारा विवेक** / *सतीश देशपाण्डे* 47

**अधूरा है समाज-विज्ञान का विकास** / *घनश्याम शाह* 61

**मतदाताओं का संसार**

**चुनावी होड़ की समझ : मुद्दे और विश्लेषणात्मक संरचना** / *सुहास पलशीकर* (अनु. : अरुण कुमार त्रिपाठी) 67

**दलीय प्रणाली और गठजोड़ : गठबंधन-प्रणाली का संस्थानीकरण** / *के.के. कैलाश* (अनु. : अरुण कुमार त्रिपाठी) 79

**नये 'केंद्र' बनते राज्य?** / *संदीप शास्त्री* (अनु. : कमल नयन चौबे) 94

**ऊँची जातियों की गुत्थी : भाजपा से कांग्रेस, फिर वापसी** / *विभा अत्री और नितिन मेहता* (अनु. : अरुण कुमार त्रिपाठी) 105

**दलित-आदिवादी वोट बैंक का मिथक** / *राहुल वर्मा और ज्योति मिश्रा* (अनु. : अरुण कुमार त्रिपाठी) 119

**पिछड़ी जातियों की उत्तर-मण्डल राजनीति** / *ज्योति मिश्रा और आशीष रंजन* (अनु. : नरेश गोस्वामी) 133

**किसी के बैंक में नहीं पड़े हैं मुसलमान मतदाता** / *श्रेयस सरदेसाई* (अनु. : कमल नयन चौबे) 147

**हिंदुत्व और हिंदुस्तानी मुसलमान** / *हिलाल अहमद* 163

**क्या चाहती हैं वोटर औरतें?** / *राजेश्वरी देशपाण्डे* (अनु. : नरेश गोस्वामी) 173

**युवा मतदाता : बँटी हुई प्राथमिकताएँ** / *संजय कुमार* (अनु. : अरुण कुमार त्रिपाठी) 183

**शहर का रुझान** / *रीतिका स्याल* (अनु. : अरुण कुमार त्रिपाठी) 195

**अनुशासन**

**बहुरूपी होता हुआ इतिहास** / *प्रथमा बनर्जी* (अनु. : नरेश गोस्वामी) **201**

**परिप्रेक्ष्य**

***हिंद स्वराज* और *कम्युनिस्ट घोषणापत्र* : मार्क्स, गाँधी और हाइडैगर के आईने में एक पुनर्पाठ** / *अम्बिकादत्त शर्मा* **223**

**विशेष**

**ऐसी कुगति भई वात्स्यायन की : कामसूत्र पर आधुनिक निगाह** / *राधावल्लभ त्रिपाठी* **239**

**राजनीति के क़ाबिल कौन है? : आम्बेडकर बरक्स अरस्तू** / *सौम्यव्रत चौधरी* (अनु. : सुनील कुमार) **259**

**संधान**

**प्रवासी मज़दूर : बिदेसिया लोक-संस्कृति** / *धनंजय सिंह* **279**

**'मुक्तिकामी फ़िलॉलॉजी' और ज्ञान-परम्पराएँ : शब्दार्थ-विज्ञान के सिलसिले में शेल्डन पोलॉक से एक बहस** / *अविनाश झा* **312**

**यहाँ से मीडिया को देखो! : न्यूज़ रूम की एक आत्मीय आलोचना** / *विपुल मुद्गल* (अनु. : चंदन श्रीवास्तव) **327**

**समीक्षा**

**सिर पर ढोई जा रही राष्ट्रीय और सामाजिक शर्म** / *अरविंद कुमार* **341**

**उर्दू का आरम्भिक युग बनाम हिंदी की प्राचीनता** / *चंदन श्रीवास्तव* **348**

**सेक्शुअलिटी और साम्प्रदायिकता : एक पुनर्रचना** / *संजय शर्मा* **357**

**वयस्क होती हिंदी की बौद्धिकता** / *आलोक टण्डन* **363**

**युवा विमर्श : एक खुलती हुई श्रेणी** / *हिलाल अहमद* **375**

**स्मृति-शेष**

**नामदेव ढसाल : कविता का सर्वहारा स्वर** / *अरविंद कुमार* **378**

**प्राश्निक / भारत में अहिंसा-चिंतन, श्रमण परम्परा और वैदिक विश्व-दृष्टि**

**श्रमण परम्परा और अहिंसा** / *राकेश पाण्डेय* **387**

**श्रमण चिंतन में विश्व-दृष्टि और वैदिक परम्परा** / *गोविंद चंद्र पाण्डे* (अनु. : नरेश गोस्वामी) **398**

**अहिंसा : अध्ययन की एक दिशा** / *पण्डित जगन्नाथ उपाध्याय* **415**

**अहिंसा** / *पण्डित सुखलाल संघवी* **433**

00_intro:Layout 1 5/7/2014 2:49 PM Page v



# मतदाताओं का संसार और सामाजिक लोकतंत्र

वह थी जनवरी की छब्बीस तारीख़ और साल था उन्नीस सौ पचास का। भारतीय गणतंत्र के उद्घाटन की पूर्ववेला पर संविधान की मसविदा समिति के सभापति डॉ. भीमराव आम्बेडकर ने उम्मीद और अंदेशे के बीच झूलते हुए कहा था :

> जनवरी की 26 तारीख़ को हम अंतर्विरोधों के युग में प्रवेश करेंगे। राजनीति में समता और सामाजिक-आर्थिक जीवन में विषमता होगी। राजनीति में हम एक व्यक्ति की क़ीमत एक वोट के आधार पर आँकेंगे। लेकिन सामाजिक और आर्थिक जगत में विषमतामूलक संरचनाओं के कारण हम एक व्यक्ति-एक मूल्य का उसूल नकारना जारी रखेंगे। अंतर्विरोधों की इस गिरफ़्त में हम कब तक फँसे रहेंगे? सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में समानता को हम कब तक ठुकराते रहेंगे? अगर हमने लम्बे अरसे तक समता का अस्वीकार जारी रखा तो इसका नतीजा हमारे राजनीतिक लोकतंत्र के संकटग्रस्त होने में ही निकलेगा।[1]

तीसरे ***प्रतिमान*** के आवरण पर जिन भारतवासियों की क़तारबद्ध छवि दिखायी पड़ रही है वे दिल्ली के टाउन हाल पर देश के पहले आम चुनाव (1952) में वोट डालने के लिए जमा हुए थे। यही था वह क्षण भारत में चुनावी लोकतंत्र का आग़ाज़ हुआ था। तब से अब तक पंद्रह बार लोकसभा चुनी जा चुकी है, और आज हम इस मुक़ाम पर आ पहुँचे हैं कि सोलहवीं लोकसभा के लिए हो रहे आम चुनाव की रोशनी में आम्बेडकर के इस बहुउद्धृत वक्तव्य को एक नये कोण से पढ़ सकें। शायद हमारे संविधान-पुरुष ने यह मान लिया था कि उनकी और उनके साथियों की क़लम ने कम से कम मतदाताओं के एक ऐसे

[1] *कांस्टीट्युएंट एसेम्बली डिबेट* (1989), खण्ड 10, ऑफ़िशियल रिपोर्ट : 1979.

00_intro:Layout 1 5/7/2014 2:49 PM Page vi



संसार की रचना करने का रास्ता तो साफ़ कर ही दिया है जो अनिवार्य समानता पर आधारित होगा। इक़बाल के शब्दों में वोटर का किरदार ग्रहण करके इस दुनिया में जब हर हिंदुस्तानी 'एक ही सफ़ में' खड़ा होगा तो न कोई 'बंदा' रह जाएगा न ही 'बंदानवाज़'। ख़ास बात यह है कि इस दायरे में बंदा और बंदानवाज़ का फ़र्क़ नागरिक होने की आधुनिक हैसियत के तहत नहीं, बल्कि बहैसियत मतदाता ख़त्म होना था। पश्चिमी सिद्धांतशास्त्र द्वारा थमाये गये किताबी अर्थों में मतदाता होना नागरिक होने का एक लाज़मी हिस्सा है, लेकिन पर्याय नहीं। यानी, इस दुनिया में हिंदुस्तान का एक बालिग़ बाशिंदा नागरिक बनने की तयशुदा शर्तें बाद में पूरा करता है (और शायद आने वाले लम्बे समय तक कर भी न पाए और हो सकता है कि आख़िर में उसे ऐसी कोई ज़रूरत भी न रह जाए) और मतदाता पहले बन जाता है।

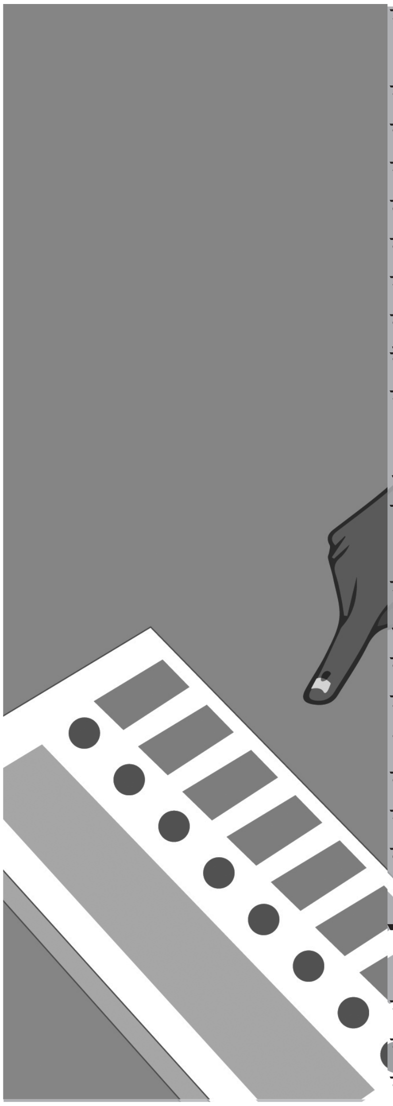

इसी जगह एक सवाल उठता है कि क्या मतदाताओं के इस समतामूलक संसार में उनके प्रतिनिधियों का जगत भी शामिल है? क्या हम यह ख़ुशफ़हमी पाल सकते हैं कि मतदातागण अपने प्रतिनिधियों के साथ समरस हैं? यह एक अफ़सोसनाक हक़ीक़त है कि प्रातिनिधिक लोकतंत्र के उदारतावादी संस्करण में मतदाता और उसके प्रतिनिधि के बीच समरसता के बजाय एक तरह का विपर्यय पैदा हो जाता है जिसकी संरचना देश और काल के हिसाब से अलग-अलग होती है। इसी विपर्यय के भारतीय संस्करण के निराकरण के लिए हमारा लोकतंत्र संघर्ष कर रहा है, और इसी जद्दोजहद की अभिव्यक्ति मतदान-शिक्षण के लिए बनाये गये इरफ़ान के दो कार्टूनों में होती है। इनमें एक जगह मतदाता ई.वी.एम. (वोटिंग मशीन) का बटन दबाने वाली 'सीधी उँगली से घी' निकालता है और दूसरी जगह प्रतिनिधियों को उसकी वही उँगली बार-बार त्रस्त करती दिखती है।

आम्बेडकर के वक्तव्य में एक दूसरी मान्यता यह निहित थी कि मतदाताओं के संसार की अनिवार्य समता नागरिकों के विभिन्न संसारों की आधारभूत विषमताओं से टकरायेगी, और अगर वे ग़ैरबराबरियाँ ख़त्म न की गयीं तो अंततः मतदाताओं के समतामूलक संसार का भी क्षय होना शुरू हो जाएगा। हालाँकि चौंसठ साल पहले दिया गया यह वक्तव्य आज भी कमोबेश उन्हीं उम्मीदों और अंदेशों की तरफ़ इशारा कर रहा है, लेकिन बाबासाहेब द्वारा रेखांकित अंतर्विरोध का भीतरी विन्यास पहले जैसा नहीं रह गया है। यह अंदरूनी परिवर्तन आम्बेडकर द्वारा व्यक्त अंदेशों का शमन तो नहीं कर पाया, लेकिन उसने आशाओं को भग्न भी नहीं होने दिया।

इस बदले हुए विन्यास का प्रमुख पहलू क्या है? आम्बेडकर की निगाह में सामाजिक-आर्थिक विकास-क्रम मतदाताओं के बीच की संविधानगत समानता का नियामक था, लेकिन आज लगता है कि एक वोटर-एक मूल्य का उसूल अपनी तयशुदा सीमाओं से परे जा कर ग़ैर-बराबरी के ख़िलाफ़ चल रही प्रक्रियाओं को सकारात्मक रूप से स्पर्श

करने की स्थिति में आ चुका है। दरअसल, आज़ादी के बाद लोकतंत्र का व्यावहारिक कामकाज एक ऐसी अनूठी गति से चला जिसके बारे में पहले से अंदाज़ा लगाना तक़रीबन नामुमकिन था। बालिग़ मताधिकार पर आधारित चुनाव एक ऐसा उपकरण बन गया जिससे हमारे सामाजिक जीवन के लगभग हर हिस्से को न केवल निर्णायक अग्रगति मिलने लगी, बल्कि उसके ज़रिये हमारी सामाजिक और संस्थागत प्रक्रियाओं को लोकतांत्रिक कही जाने वाली एक तरह की वैधता भी नसीब हुई। अर्थात् मतदाताओं का यह संसार जातियों-समुदायों की ऊँच-नीच से आक्रांत दुनिया के साथ-साथ मज़दूरों-किसानों और मध्यवर्ग की उत्पादन-प्रधान गतिशीलता पर निर्भर रहते हुए भी भारतीय परिस्थितियों की विशिष्टता के कारण एक तरह की अपेक्षाकृत स्वायत्तता से सम्पन्न हो गया। उत्तर-आम्बेडकर समय में सक्रिय भारतीय लोकतंत्र के एक प्रेक्षक के तौर पर योगेंद्र यादव का यह अवलोकन मतदाताओं के संसार की बढ़ती हुई अहमियत और ख़ुदमुख़्तारी का राजनीतिशास्त्रीय प्रमाण है :

> भारत में मतदान-आधारित चुनाव का इस्तेमाल छोटी-छोटी बातों के लिए भी होता है। लगातार होने वाले लगभग असीमित मताधिकार पर आधारित नाना प्रकार के चुनाव एक दिनचर्या स्थापित करते हैं। विश्वविद्यालयों की शैक्षिक परिषदों के चुनाव, कॉलेज की प्रबंध समिति के चुनाव, सहकारी बैंक के अध्यक्ष के लिए होने वाले चुनाव, खेल-कूद की चयन समितियों के चुनाव और तमाम तरह के अन्य चुनाव यानी सम्पूर्ण सार्वजनिक जीवन में एक से अधिक दावों के निबटारे के लिए चुनाव ने प्रमुख तरीक़े की हैसियत प्राप्त कर ली है।[2]

गुज़रे साल के आखिरी महीनों में हुआ दिल्ली विधानसभा का चुनाव इस आश्वस्तिदायक हक़ीक़त का एक सबूत है कि मतदाताओं के इस विशाल संसार का बहुत बड़ा हिस्सा प्रतिरोध की राजनीति से अछूता नहीं रहता। बावजूद इसके कि इस समय मुल्क के निज़ाम पर देशी-विदेशी कॉरपोरेट स्वार्थों का साया पड़ चुका है, दिल्ली का यह घटनाक्रम बताता है कि मतदाताओं के संसार को पूरी तरह से अपनी मातहती में लेना पूँजी की सर्वव्यापी ताक़त के लिए भी मुमकिन नहीं है। इसी के साथ यह तथ्य भी नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता कि इस संसार की समतामूलकता सीमित करने वाले कई तत्त्वों को पिछले पच्चीस सालों में अपेक्षाकृत बेअसर कर दिया गया है। चुनाव आयोग एक ऐसी प्रभावी संस्था है जिसने तरह-तरह के क़दम उठा कर मतदाता-मण्डल को कमोबेश बाहुबल के प्रभाव से मुक्त कराने की कोशिश की है। जिस परिघटना को मतदान-केंद्रों पर क़ब्ज़े के रूप में जाना जाता था, वह अभी पूरी तरह तो ख़त्म नहीं हुई है लेकिन उसकी व्यापकता में काफ़ी कमी आई है। निर्वाचन-क्षेत्रों के परिसीमन की प्रक्रिया एक बार चलायी जा चुकी है जिसके परिणामस्वरूप एक क्षेत्र में पड़ने वाले एक वोट का तकनीकी मूल्य दूसरे क्षेत्र में पड़ने वाले वोट के तकनीकी मूल्य के नज़दीक़ आ गया है। ऐसा लगता है कि परिसीमन के दूसरे चक्र में यह अंतर और घट जाएगा।

मतदाताओं के लिए विकल्पों की संख्या बढ़ाना भी एक तरीक़ा है

[2] योगेंद्र यादव (2002), 'कायापलट की कहानी : नया प्रयोग, नयी सम्भावनाएँ, नये अंदेशे', अभय कुमार दुबे (सम्पा), *लोकतंत्र के सात अध्याय,* वाणी-सी.एस.डी.एस. प्रकाशन, नयी दिल्ली : 33-67.

जो उनकी आपसी समानता को समृद्ध करता है। हाल ही सुप्रीम कोर्ट की मदद से क़ायम किया गया नोटा (कोई उपयुक्त नहीं) एक ऐसा ही क़दम है जो पहली नज़र में सीमित लगता है, लेकिन जिसमें 'प्रतिनिधि वापसी' जैसे बहु-विवादित अधिकार की सम्भावनाएँ छिपी हुई हैं। भले ही रैडिकल क़िस्म की प्रतिनिधि वापसी का प्रावधान हासिल न हो पाए, लेकिन अगर उसकी भावना को स्पर्श करने वाली किसी मंज़िल को ही हासिल किया जा सका तो मतदाताओं के संसार और उनके प्रतिनिधियों के संसार के बीच मौजूद अंतर्विरोधों को एक हद तक मित्रतापूर्ण बनाया जा सकेगा।

शहरीकरण का अबाध गति से चलता सिलसिला ग्रामीणपन और शहरीपन के बीच की खाई को पाटता जा रहा है। चौतरफ़ा राजनीतीकरण का धीमा लेकिन सतत सिलसिला जाति-बिरादरी की जकड़बंदी को क्रमशः ढीला कर रहा है। देश के कई हिस्सों में जाति-समूहों ने मिल कर स्थायी-अस्थायी राजनीतिक समुदायों की रचना कर ली है। बिरादरियों और धर्मावलम्बियों के नेटवर्क 'टेक्टिकल वोटिंग' की परिघटना की तरफ़ इशारा कर रहे हैं जो अपने चरित्र में दीर्घकालीन राजनीतिक लाभों की प्राप्ति की इच्छा की अभिव्यक्ति है। साक्षरता बढ़ती जा रही है और समाचार-माध्यमों के लगभग सर्वव्यापी प्रभाव ने आम मतदाताओं के पहले से कहीं ज़्यादा बड़े हिस्सों को जनमत-निर्माण की प्रक्रिया का हिस्सा बना लिया है। केवल एक पहलू ऐसा है जिसका कोई कारगर हल अभी तक नहीं खोजा सका है। मतपत्रों की खींचतान में काग़ज़ के रुपये की हँसी पर प्रतिबंध लगाने का काम अभी बाक़ी है। हर चुनाव में मतदाने से पहले चुनाव आयोग सैकड़ों करोड़ रुपये की नक़दी, हज़ारों लीटर शराब और हज़ारों करोड़ रुपये के नशीले पदार्थ ज़ब्त करता है। ज़ाहिर है कि मतदाताओं की जेबों, उनके पेटों और उनके दिमाग़ों पर शिकंजा कसने के ये हथकंडे ताक़तवर पार्टियों के 'डर्टी ट्रिक्स डिपार्टमेंट्स' ही अंजाम देते हैं। इस तरह की समस्या से तभी छुटकारा पाया जा सकता है जब चुनाव लड़ने का वह किफ़ायती मॉडल संस्थागत रूप ग्रहण कर लेगा जिसकी प्रस्तावना आम आदमी पार्टी ने दिल्ली के चुनाव में कर दी है। जैसे ही इस दिशा में एक सीमा तक कामयाबी मिली, इस समतामूलकता की सीमाएँ काफ़ी हद तक कम हो जाएँगी।

इस संबंध में भारतीय राज्य और लोकसभा जैसी शीर्ष विधायिका की भूमिका पर एक आलोचनात्मक नज़र डालना ज़रूरी है। विस्तृत और गहन चुनाव सुधारों का प्रस्ताव पिछले तीन दशक से धूल खा रहा है। इस दिशा में जो भी क़दम उठाये गये हैं, वे रुक-रुक कर हिचक के साथ और किश्तों में की गयी कार्रवाइयों की तरह हैं।

लोकनीति के निदेशक संजय कुमार ने हाल ही में भारत में वोटरों की प्रवृत्तियों के अकादमीय अध्ययन के कुछ महत्त्वपूर्ण पहलुओं की तरफ़ ध्यान खींचा है।[3] संजय कुमार के अनुसार भारत के निर्वाचन आयोग द्वारा उपलब्ध करायी जाने वाली जानकारियाँ मतदान-प्रक्रिया की

[3] संजय कुमार (2013), 'भारत में मतदान-व्यवहार-1 और 2', अभय कुमार दुबे (सम्पा), *समाज-विज्ञान विश्वकोश,* खण्ड 4, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली : 1155-1160.

00_intro:Layout 1 5/7/2014 2:49 PM Page ix



तथ्यात्मक जानकारियाँ-भर होती हैं जिनसे चुनाव-परिणामों के मात्रात्मक आयाम ही अभिव्यक्त होते हैं। आयोग मतदाताओं के मतदान-व्यवहार और रुझान से संबंधित कोई भी आँकड़ा उपलब्ध नहीं कराता। मसलन, वह यह नहीं बताता है कि विभिन्न सामाजिक-आर्थिक परिवेश और जाति-समुदाय से संबंध रखने वाले लोगों ने चुनाव में किस प्रकार मतदान किया; किसे वोट दिया या किसे नहीं दिया; और उन्होंने किसी विशिष्ट दल या उम्मीदवार को वोट क्यों दिया? क्या युवा मतदाताओं की राजनीति वरीयताएँ वृद्ध मतदाताओं की तुलना में अलग थीं? क्या अधिकांश स्त्री-मतदाता मतदान का निर्णय लेते समय अपने पति द्वारा निर्देशित हुई थीं? किसी विशिष्ट चुनाव के दौरान किस चुनावी मुद्दे ने मतदाताओं के चयन को सबसे ज़्यादा प्रभावित किया? इस प्रकार के अनेक शोध-प्रश्न हैं जिनका जवाब भारत के निर्वाचन आयोग द्वारा उपलब्ध कराये जाने वाले परिणामों/आँकड़ों के आधार पर नहीं दिया जा सकता है। निर्वाचन आयोग द्वारा उपलब्ध कराये जाने वाले आँकड़ों के आधार पर चुनाव से संबंधित कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के उत्तर भी नहीं ढूँढ़े जा सकते हैं, जैसे, क्या भारत में मुसलमान मतदाता दक्षिणपंथी राजनीतिक दल भाजपा को वोट देते भी हैं अथवा क्या वे एक रणनीति के तहत संगठित होकर उसे चुनाव में हराने के लिए वोट डालते हैं?

ऊँची जातियों के मतदाताओं को कांग्रेस या भाजपा जैसे राष्ट्रीय दलों का पारम्परिक समर्थक माना जाता है। परंतु प्रश्न यह उठता है कि क्या वे हमेशा राष्ट्रीय दलों को ही वोट डालते हैं या फिर कुछ राज्यों में ऊँची जातियों के मतदाताओं का वोट भी क्षेत्रीय दलों की ओर खिसक रहा है? भारत में दलित और आदिवासी समुदायों के मतदाताओं का मतदान स्वरूप कैसा रहा है? क्या पहचानों पर आधारित राजनीतिक दलों के गठन ने इन समुदायों वोटों को उनके पक्ष में संगठित किया है? क्या मतदाताओं का चुनावी विकल्प उनकी विभिन्न पृष्ठभूमियों (शिक्षित / निरक्षर, ग्रामीण / शहरी, अमीर / ग़रीब) के आधार पर बहुत ज़्यादा बदलता है? इस तरह के प्रश्नों के परिप्रेक्ष्य में भारतीय चुनावों में मतदान के व्यावहारिक या सांदर्भिक पहलुओं का अध्ययन महत्त्वपूर्ण हो जाता है। वस्तुतः चुनावों का अनुभवमूलक अध्ययन करके ही इन प्रश्नों का प्रमाणों पर आधारित जवाब प्राप्त किया जा सकता है, बिना प्रमाण के इन प्रश्नों का जवाब देने की कोशिश करना महज़ अटकलबाज़ी होगी जो हमें सच्चाई से कोसों दूर ले जा सकती है।

संजय कुमार इस प्रश्न का जवाब भी देते हैं कि क्या भारत में मतदान-व्यवहार के लिए अपनायी गयी प्रणाली पश्चिमी दुनिया की कार्बन कॉपी है या फिर इन प्रणालियों ने भारतीय समाज

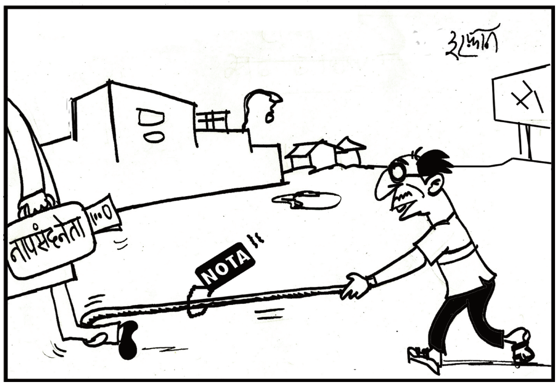


की विविधता और विजातीयता का ध्यान रखा? वे विभिन्न चरण कौन से हैं जिनसे होकर चुनाव-सर्वेक्षण और जनमत-सर्वेक्षण की प्रक्रिया को गुज़रना पड़ा और इतना समय बीत जाने के बाद इसमें क्या नये परिवर्तन और विकास हुए हैं, भारत में मतदान-व्यवहार को मापने की अन्य प्रणालियों जैसे, चुनाव क्षेत्र का अध्ययन, इलीट स्टडी, केस स्टडी या एथनोग्राफ़ी अध्ययन की तुलना में सर्वे प्रणाली सबसे ज़्यादा लोकप्रिय क्यों है?

दरअसल, भारतीय मतदाताओं के मत और रुझानों को मापने के लिए संस्थात्मक स्तर पर किये जाने वाले जनमत सर्वेक्षण की पहली शुरुआत 1950 के दशक में ही शुरू हो चुकी थी। एरिक डिकोस्टा ने अमेरिकी संस्था अमेरिकन इंस्टीट्यूट ऑफ़ पब्लिक ओपिनियन की तर्ज़ पर 1950 के दशक के प्रारम्भ में ही इंस्टीट्यूट ऑफ़ पब्लिक ओपिनियन (आई.आई. पी.ओ) की स्थापना की थी। डिकोस्टा पेशे से एक अर्थशास्त्री थे जिनकी प्राथमिक रुचि उपभोक्ता से संबंधित अध्ययनों में थी। लेकिन उन्होंने भारत में आर्थिक और राजनीतिक मुद्दों पर जनमत-सर्वेक्षण भी प्रारम्भ किया। आई.आई.पी.ओ. ने दिल्ली, पश्चिम बंगाल और केरल में कुछ राजनीतिक अध्ययन किये थे। इन अध्ययनों के नतीजे उस संस्था के प्रथम जर्नल *मंथली पब्लिक ओपिनियन स्टडीज़* (एम.पी.ओ.एस.) में प्रकाशित हो चुके हैं। 1957 में दूसरे लोकसभा चुनाव के पूर्व अखिल भारतीय स्तर पर पहला जनमत सर्वेक्षण कराया गया जिसके आधार पर पहली चुनावी भविष्यवाणी की गयी जो एकदम सटीक साबित हुई।

आई.आई.पी.ओ. के अतिरिक्त व्यक्तिगत स्तर पर भी चुनाव के अध्ययन के प्रयास किये गये। वी.एम. सिरसीकर ने 1967 में सम्पन्न आम चुनावों के दौरान सर्वे के आधार पर पुणे लोकसभा निर्वाचन क्षेत्र का अध्ययन किया जिसने बताया कि भारत में अधिकांश लोगों को लोकतंत्र, चुनावों और राजनीतिक दलों में विश्वास है। इसका एक दिलचस्प नतीजा यह निकला कि जो लोग ज़्यादा शैक्षणिक योग्यता रखते थे उनका लोकतंत्र पर कम विश्वास था जबकि उनकी तुलना में कम शिक्षित लोगों का लोकतंत्र पर ज़्यादा विश्वास था; और कम शिक्षित परिवारों में परिवार के सदस्यों के मतदान के निर्णय पर परिवार के मुखिया का प्रभाव बहुत ज़्यादा था जबकि ऊँची शिक्षा प्राप्त परिवारों में यह तुलनात्मक रूप से कम था। इसके अलावा उम्मीदवार, दल और जाति-समुदाय मतदान पर निर्णय लेने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते थे और अंततः मतदाताओं के व्यवसाय, आय और उम्र मतदाताओं के मतदान-व्यवहार और रुझान को प्रभावित

नहीं करते थे।

1967 में सम्पन्न आम चुनावों के दौरान कीनी ने व्यक्तिगत स्तर पर साक्षात्कार की एक विस्तृत प्रश्नावली का प्रयोग करके नागपुर में एक पैनल सर्वे संचालित किया। उन्होंने साक्षात्कार में उत्तर देने वाले लोगों की लोकसभा और राज्य विधानसभा चुनावों के लिए दलों की वरीयताएँ जानने की कोशिश की। उन्होंने इसके लिए 'विभाजित वोट' तकनीक का प्रयोग किया। इस अध्ययन ने मतदान-व्यवहार से संबंधित इस महत्त्वपूर्ण पक्ष को भी उजागर किया कि वे मतदाता जो चुनावी सभाओं और दलों के प्रचार में खुलकर हिस्सा लेते थे, उनके मतदान के निश्चय ज़्यादा अस्थिर होते थे और उनमें बदल जाने की सम्भावना भी ज़्यादा थी। सामाजिक-आर्थिक चरों, जैसे— लिंग, जाति, धर्म, शिक्षा और आय राजनीतिक जागरूकता और प्रभाव के निर्धारण के महत्त्वपूर्ण कारक थे।

भारत में मतदान-व्यवहार मापने की परम्परा आगे बढ़ाने का श्रेय इल्डसवेल्ड और विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सी.एस.डी.एस.) के विद्वान बशीरुद्दीन अहमद को है। इन दोनों ने 1967 और 1971 में सम्पन्न आम चुनावों का अखिल भारतीय स्तर पर सर्वेक्षण संचालित किया। संस्थात्मक स्तर पर पूरे भारत के सैम्पल सर्वे पर आधारित आम चुनावों के अकादमिक अध्ययन की शुरुआत अध्ययन पीठ द्वारा साठ के दशक में शुरू की गयी थी। यह अध्ययन राष्ट्रीय चुनाव-अध्ययन (एन.ई.एस.) के नाम से लोकप्रिय है। पहला राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन भारतीय मतदाताओं के राजनीतिक व्यवहार, मत और रुझान के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए 1967 में संचालित किया गया था। परंतु इनके अध्ययनों में परोक्ष उद्देश्यों की भी एक व्यापक श्रेणी थी जो भारत में और भारत के बाहर लोकतांत्रिक राजनीति का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों के लिए अत्यंत प्रासंगिक बनी हुई है। इसने चुनावों को ऐसे अवसर या खिड़की के रूप में प्रयोग करना सिखाया जिसके माध्यम से लोकतांत्रिक राजनीति की प्रवृत्तियों और प्रारूपों को समझा जा सकता है।

इसके बाद दूसरा राष्ट्रीय स्तर का अध्ययन 1971 के आम चुनावों के दौरान हुआ। 1980 के लोकसभा चुनावों के दौरान अध्ययन पीठ ने अखिल भारतीय सर्वे के लिए डिज़ाइन तैयार किया और इंस्टीट्यूट ऑफ़ पब्लिक ओपिनियन (आई.आई.पी.ओ.), दिल्ली ने फ़ील्डवर्क संचालित किया। इस कालावधि के दौरान संचालित हुए सर्वेक्षणों की मुख्य पहचान सम्भाव्यता सैम्पलिंग, गहन प्रश्नावलियाँ और सख़्त फ़ील्डवर्क था। इस अध्ययन की एक प्रमुख कमी यह थी कि इस सर्वे में महिला मतदाताओं को शामिल नहीं किया गया था। इसका कारण सर्वे के दौरान फ़ील्ड में आने वाली दिक़्क़तें तो थीं ही, इसके साथ ही उस समय यह भी माना जाता था कि महिला और पुरुष मतदाताओं के मतों के बीच में कोई विशेष अंतर नहीं होता है। हालाँकि इस कमी को बहुत जल्द दूर कर लिया गया और 1971 के राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन में महिलाओं को भी सैम्पल में शामिल किया गया था।

00_intro:Layout 1 5/7/2014 2:49 PM Page xii



पिछले एक दशक में सम्पन्न हुए चुनावों के दौरान भारतीय मतदाताओं के बीच बड़ी संख्या में कराये गये जनमत सर्वेक्षण इस तथ्य का प्रमाण हैं कि हमारे देश में चुनावी सर्वेक्षण और सर्वेक्षण उद्योग की लोकप्रियता बढ़ी है। वर्ष 2004 और वर्ष 2009 में सम्पन्न हुए पिछले दो आम चुनावों में तो चुनाव पूर्व सर्वेक्षण और एग्ज़िट पोल कराने के लिए भारतीय मीडिया में भीषण प्रतियोगिता देखी गयी। यह होड़ अंततः इस बात को लेकर होती है कि सम्भावित चुनावी परिणाम की सबसे सटीक भविष्यवाणी कौन कर सकता है। पोलस्टर और सेफॉलॅजिस्ट सिर्फ़ एक ज्योतिषी का किरदार नहीं निभाते। मसलन वे सिर्फ़ इस बात की भविष्यवाणी नहीं करते कि संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन या राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठजोड़ जैसे राष्ट्रीय राजनीतिक गठबंधनों और अन्यों को कितनी सीटें मिलेंगी, वे मतदाताओं के मतदान-व्यवहार और रुझानों की भी व्याख्या करने लगते हैं। वे यह भी बताने लगते हैं कि किन मुद्दों का चुनाव पर कितना प्रभाव पड़ेगा।

जनमत-सर्वेक्षण की लोकप्रियता अस्सी के दशक में प्रारम्भ हुई जब प्रणय रॉय ने भारतीय मतदाताओं के मिज़ाज को जानने के लिए चुनावों के दौरान जनमत-सर्वेक्षण संचालित करना प्रारम्भ किया। रॉय की कोशिश थी कि जनमत सर्वेक्षणों को चुनाव के अध्ययन के लिए और सीटों की भविष्यवाणी के लिए वैज्ञानिक तरीक़ा बनाया जाए। इसीलिए 1989 में रॉय ने मार्केटिंग ऐंड रिसर्च ग्रुप के सहयोग से एक एग्ज़िट पोल संचालित किया। इसमें 77,000 मतदाताओं का मतदान केंद्रों पर वोट डाल कर बाहर आने के तुरंत बाद साक्षात्कार किया गया था। इस सर्वे ने कांग्रेस के जीतने की भविष्यवाणी की थी जो कमोबेश सटीक थी। बाद में चुनाव के परिणामों ने सर्वे के सटीक होने की पुष्टि की। 'वोट स्विंग' एक बहुत ही लोकप्रिय शब्द बन गया था जिसकी गणना पिछले चुनाव में राजनीतिक दलों को प्राप्त वोटों की तुलना में वोटों के लाभ या हानि के आधार पर की जाती थी। इसके बाद डॉ. रॉय भारत में टेलीविज़न दर्शकों के बीच एक घरेलू नाम बन गये। उनके द्वारा की गयी इस पहल को हाथों-हाथ लिया गया और 1990 के दशक में प्रचुर मात्रा में उभरे इलेक्ट्रॉनिक मीडिया की सहायता से मीडिया और जनमत सर्वेक्षण दोनों विकास के पथ पर अग्रसर हो गये। इस प्रकार मतदाताओं के मत और व्यवहार को मापने के लिए चुनावी सर्वे और एग्ज़िट पोल कराना अत्यंत लोकप्रिय हो गया।[4]

तरह-तरह की लोकतांत्रिक सम्भावनाओं से धड़कती मतदाताओं की यही विकासमान दुनिया ***प्रतिमान*** के तीसरे अंक के केंद्र में है। विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सी.एस.डी.एस.) समाज-विज्ञान के वैश्विक हलक़ों में अपनी चुनाव-अध्ययन संबंधी विशेषज्ञता के लिए जानी जाती है। पीठ के अनुसंधान कार्यक्रम लोकनीति (इंस्टीट्यूट फ़ॉर कम्परेटिव डेमॉक्रैसी) से जुड़े बारह विद्वानों, देश के चार वरिष्ठ समाजशास्त्रियों और भारतीय भाषा कार्यक्रम में सक्रिय दो प्रमुख राजनीतिशास्त्रियों ने मिल कर एक ऐसी विशाल परिचर्चा का आयोजन किया है जिसकी मिसाल अंग्रेज़ी में भी उपलब्ध नहीं है।

---

[4] भारत में चुनाव-अध्ययन संबंधी साहित्य के लिए देखें, लोकनीति टीम (2004), 'नैशनल इलेक्शन स्टडी 2004 : ऐन इंट्रोडक्शन', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 39, अंक 51; ए.एम. शाह (सम्पा.) (2007), द *ग्रासरूट ऑफ़ डेमॉक्रैसी : फ़ील्ड स्टडीज़ ऑफ़ इलेक्शंस,* परमानेंट ब्लैक, नयी दिल्ली; इंस्टीट्यूट ऑफ़ पब्लिक ओपिनियन (1970-71), 'द फ़िफ़्थ लोकसभा इलेक्शन : ऐन एनालिसिस ऑफ़ पॉलिटिकल बिहेवियर', *मंथली पब्लिक ओपिनियन सर्वे,* खण्ड 16, अंक 3; योगेंद्र यादव (2007), 'इंवीटेशन टू ए डॉयलॉग : ह्वाट वर 'फ़ील्डवर्क' डू इन द फ़ील्ड ऑफ़ इलेक्शंस?, एम.एन. श्रीनिवास और ए.एम. शाह (सम्पा.) (2007), द *ग्रासरूट ऑफ़ डेमॉक्रैसी: फ़ील्ड स्टडीज़ ऑफ़ इलेक्शंस,* परमानेंट ब्लैक, नयी दिल्ली; योगेंद्र यादव (2008), 'विदर सर्वे रिसर्च? रिफ़्लेक्शंस ऑन द स्टेट ऑफ़ सर्वे रिसर्च ऑन पॉलिटिक्स इन मोस्ट ऑफ़ द वर्ल्ड', मेलकॅम आदिशेषैया स्मृति व्याख्यान, चेन्नई; सुहास पलशीकर (2007), 'द इमैजिंड डिबेट बिटवीन पोल्स्टर ऐंड एथ्नोग्राफ़र', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 42, अंक 43.

00_intro:Layout 1 5/7/2014 2:49 PM Page xiii

इस चर्चा के तीन पक्ष हैं। पहला, पिछले तीस सालों पर विहंगम दृष्टि डालते हुए राष्ट्रीय चुनाव अध्ययनों के विभिन्न संस्करणों और चुनाव आयोग से मिले तथ्यों के आधार पर चुनावी लोकतंत्र के समग्र यथार्थ को स्पष्ट करना; दूसरा, राजनीतिक समाजशास्त्र के साथ चुनाव-शास्त्र या सेफ़ोलॉजी की अन्योन्यक्रिया के इतिहास और वर्तमान को उद्घाटित करना; और तीसरा, यह पता लगाना कि जनतंत्र (जिसे हम डेमॉक्रैसी या लोकतंत्र भी कहते हैं) और जनवाद (जिसे हम पॉपुलिज़म, लोकलुभावनवाद या प्रतिरोध की राजनीति भी कहते हैं) की आपसी जद्दोजहद के सम्भावित मुक़ाम कौन-कौन से हैं।

पहला पक्ष हिंदी की दुनिया को आँकड़ागत विश्लेषण के शिल्प और स्थापत्य का परिचय तो देता ही है, वह पाठकों से यह आह्वान भी करता है कि वे तथ्यों के बीच छिपे सत्य की शिनाख़्त करने की प्रक्रिया से दो-चार हों। सुहास पलशीकर के अनुसार पिछले एक दशक या उससे भी ज़्यादा समय के अंतर के बाद नब्बे के दशक के मध्य में चुनावों और मतदान-प्रवृत्तियों के ज़्यादा गम्भीर और व्यवस्थित अध्ययन की परम्परा शुरू हुई है। इसलिए जहाँ हमारे पास इस बात के कुछ सूत्र हैं कि उत्तर-कांग्रेस युग में मतदाता किस तरह से वोट डाल रहा है वहीं एक मोटा-मोटा ख़ाका इस बात का भी है कि अस्सी के दशक से नब्बे के दशक के बीच क्या परिवर्तन हुआ है। इसके अलावा यहाँ जिस दौर पर अध्ययन किया गया है वह घटनात्मक राजनीतिक बदलाव और गम्भीर अनिश्चितता का है। चर्चा का प्रमुख आयाम भारतीय मतदाता-मण्डल के लगभग सभी हिस्सों (दलित, ऊँची जातियाँ, पिछड़े समुदाय, आदिवासी, मुसलमान, स्त्री, शहरी मतदाता और युवा मतदाता) के मतदान संबंधी रुझानों की ख़बर देने की प्रक्रिया में कई स्थापित भ्रांतियों का निराकरण कर देता है। मसलन, मुसलमान मतदाताओं के वोट बैंक सरीखे व्यवहार को एक तरह की स्वत:सिद्ध वास्तविकता मान लिया गया है। लेकिन श्रेयस सरदेसाई का बेहतरीन लेख दिखाता है कि पिछले तीन दशकों में मुसलमानों ने कांग्रेस को कभी 38 फ़ीसदी से ज़्यादा वोट नहीं दिये। इसके उलट द्विज समुदाय कहीं अधिक उत्साह और निरंतरता के साथ भारतीय जनता पार्टी को साठ फ़ीसदी के आस-पास वोट देते रहे हैं। यह लेख बिना कहे यह प्रश्न उठा देता है कि हमारा राजनीतिक सामान्य-ज्ञान आख़िर किस वजह से द्विज जातियों की एकमुश्त वोटिंग नज़रअंदाज़ करते हुए सारी चिंता मुसलमानों की उन मतदान-प्रवृत्तियों की करता है जो असल में एकमुश्त वोटिंग से दूर हैं। मुसलमान मतदाताओं और हिंदुत्व की राजनीति के आपसी संबंध

00_intro:Layout 1 5/7/2014 2:49 PM Page xiv



आम तौर पर नकारात्मक हैं, लेकिन केवल इतना कहने भर से इन संबंधों की जटिलता का पता नहीं चलता। हिलाल अहमद अपने बेहतरीन विश्लेषण में इन्हीं पेचीदगियों को उघाड़ते हैं।

इसी तरह संजय कुमार का विश्लेषण युवा मतदाता की श्रेणी का अंतर्निहित विन्यास उद्घाटित कर देता है। राजेश्वरी देशपाण्डे जानकारी देती हैं कि किस प्रकार जेण्डर के विचार ने अभी भारतीय स्त्री-मतदाताओं को अभी तक अनुप्राणित करना शुरू नहीं किया है। संदीप शास्त्री भारतीय राजनीति के इस यथार्थ को एक बार फिर रेखांकित करते हैं कि राष्ट्रीय पार्टियों के उत्तरोत्तर सीमित होते हुए प्रभाव-क्षेत्र की परिघटना के बीच अब लोकसभा का चुनाव किसी 'राष्ट्रीय' अखाड़े में न लड़ा जा कर न केवल राज्यों में लड़ा जाता है, बल्कि इस लिहाज़ से राज्य राष्ट्रीय राजनीति के नये केंद्र के रूप में उभरते जा रहे हैं। रीतिका स्याल ग्रामीण मतदाताओं से अलग शहरी मतदाताओं की राजनीति में रुचि, चुनाव और प्रचार की गतिविधि में उनकी भागीदारी और मतदान-प्रवृत्ति का परीक्षण कर उनके राजनीतिक व्यवहार पर रोशनी डालने की कोशिश करती हैं। राहुल वर्मा और ज्योति मिश्रा का निष्कर्ष है कि दलित और आदिवासी वोटर किसी भी पार्टी या नेता के जेबी वोट नहीं हैं और उनकी मतदान-प्राथमिकताएँ बदलती रहती हैं।

गठबंधन राजनीति पर लिखे अपने लेख में के.के. कैलाश का कहना है कि भारतीय राजनीति को गठबंधन की गाड़ी अभी लम्बे समय तक खींचना है। मौजूदा राजनीतिक प्रणाली के ढाँचे को देखते हुए एकल पार्टी सरकार के जल्दी लौटने की सम्भावना नहीं है। गठबंधन प्रणाली के संस्थागत रूप ले लेने के बाद अस्थिर क़िस्म के गठबंधन प्रयोग अब अतीत की बात हो चले हैं। उसी के साथ यह सोचना यथार्थ से अलग होगा कि बदलती स्थितियों को देखते हुए पार्टियाँ अपने को नये-नये समीकरणों में नहीं ढालेंगी। इसलिए कड़ी सौदेबाज़ी और विचित्र क़िस्म से समझौते होते रहेंगे।

ज्योति मिश्रा और आशीष रंजन ने सिद्ध किया है कि चुनावी होड़ में पिछड़े समुदायों का महत्त्व लगातार क्यों बढ़ता जा रहा है, उनकी लामबंदी हर राजनीतिक दल की प्राथमिकता क्यों बनती जा रही है, और क्यों उनके समर्थन के बिना चुनाव नहीं जीते जा सकते। विभा अत्री और नितिन मेहता ने सूचना दी है कि ऊँची जातियाँ अगले लोकसभा की स्वरूप तय करने में अहम कारक बनेगी और यह भी निर्धारित करेगी कि किस पार्टी को कितनी सीटें मिलती हैं। इन दोनों विद्वानों को एक और महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति आम आदमी पार्टी के रूप में दिखाई पड़ रही है जो कि इस वर्ग में अपना आधार बना रही है और बसपा, सपा व कुछ अन्य दलों के मुक़ाबले बहुत अच्छा कर रही है।

चर्चा के दूसरे पक्ष की रचना धीरूभाई शेठ, योगेश अटल, सतीश देशपाण्डे और घनश्याम शाह के साक्षात्कारों ने की है जिनका केंद्रीय प्रश्न यह है कि भारत में चुनावों का समाजशास्त्र अभी तक क्यों विकसित नहीं

00_intro:Layout 1 5/7/2014 2:49 PM Page xv



हुआ और क्या भविष्य में इसके विकास की कोई सम्भावना है? नरेश गोस्वामी और कमल नयन चौबे इन वरिष्ठ समाजशास्त्रियों से बातचीत के दौरान अपने सवालों के ज़रिये एक तरफ़ तो भारतीय समाजशास्त्र के इतिहास की समस्याओं पर रोशनी डलवाने में सफल रहे, दूसरी तरफ़ उन्होंने इन चारों से वोट बैंक, राजनीतिक समुदाय और जाति बनाम वर्ग जैसे प्रत्ययों से जुड़ी भ्रांतियों का निराकरण भी करवा पाया। इन साक्षात्कारों की एक विशेषता यह भी है कि इनके सवाल-जवाबों के आईने में सी.एस.डी.एस. में ख़ास तौर से और भारत-भर में आम तौर से होने वाले चुनाव-अध्ययनों पर एक गम्भीर आलोचनात्मक निगाह फेंकी गयी है। चारों वरिष्ठ विद्वान सेफ़ोलॉजी के बाज़ार-चालित आग्रहों के ख़िलाफ़ एकमत हैं। उनकी मान्यता है कि जब तक यह पहलू नहीं घटेगा, तब तक चुनाव-शास्त्र की निष्ठाएँ समाज-वैज्ञानिक गुणवत्ता की कसौटियों से दूर जाता रहेगा।

चर्चा का तीसरा पक्ष सिद्धांतीकरण का है। **सामयिकी** में आदित्य निगम ने पश्चिमी अनुभव के क़ब्ज़े से निकाल कर भारतीय संदर्भों में जनता नामक शै और उसके प्रतिनिधि के किरदार को फिर से परिभाषित करने की कोशिश की है। जनतंत्र को उदारतावाद की क़ैद से निकालने की तजवीज़ करते हुए आदित्य ने जनवाद को उदारतावादी लोकतंत्र का पर्याय मानने से इनकार किया है, और पिछले छह महीनों में राष्ट्रीय क्षितिज पर उभरी दो हस्तियों, नरेंद्र मोदी और अरविंद केजरीवाल, के पीछे सक्रिय विचार-तंत्रों पर रोशनी डाली है। आदित्य का लेख न केवल अपनी सैद्धांतिक बारीक़ी के लिए अनुशीलन करने योग्य है, बल्कि उन्होंने कई प्रचलित अभिव्यक्तियों का इस्तेमाल करने के बजाय उनके समांतर शब्दावली भी सुझायी है। मसलन, वे लोकतंत्र के लिए जनतंत्र, लोकलुभावनवाद के लिए जनवाद और विचारधारा के लिए विचार-तंत्र का प्रयोग तो करते ही हैं, वे अपने इस चुनाव के पक्ष में समझ में आने योग्य बौद्धिक दलीलें भी मुहैया कराते हैं।

तीसरा ***प्रतिमान*** केवल चुनाव-चर्चा में ही ख़त्म नहीं होता। विमर्श, अनुसंधान और समीक्षा का विविध संसार एक बार फिर पाठकों के लिए प्रतीक्षारत है। राकेश पाण्डेय द्वारा इस बार फिर 'क्यूरेट' किया गया स्तम्भ **प्राश्निक** अहिंसा और श्रमण परम्परा की चर्चा लेकर आया है जिसमें गोविंद चंद्र पाण्डे, सुखलाल संघवी और जगन्नाथ उपाध्याय अहिंसा-अध्ययन की उन दिशाओं की विस्तृत चर्चा कर रहे हैं जिनकी तरफ़ समाज-विज्ञान का अभी तक ध्यान ही नहीं गया है। **विशेष** में राधावल्लभ त्रिपाठी ने वात्स्यायन कृत *कामसूत्र* की परख उसके ऊपर हुई आधुनिक टीका-टिप्पणियों के आईने में की है। उन्होंने हमसे वायदा किया है कि वे अगले अंकों में कौटिल्य कृत *अर्थशास्त्र* और और भरत के *नाट्यशास्त्र* पर भी ऐसा ही गहन प्रकाश डालेंगे। **परिप्रेक्ष्य** में दर्शनशास्त्र के विद्वान अम्बिकादत्त शर्मा ने *हिंद स्वराज* और *कम्युनिस्ट घोषणापत्र* के नवीन अर्थग्रहण की चेष्टा की है। इसके लिए उन्होंने न केवल मार्क्स और गाँधी के विचारों का सहारा लिया है, बल्कि मार्टिन हाइडैगर को भी खँगाला है। पिछली

00_intro:Layout 1 5/7/2014 2:49 PM Page xvi



बार **अनुशासन** स्तम्भ की शुरुआत हमने भारतीय राजनीतिशास्त्र पर निवेदिता मेनन के वक्तव्य से की थी। इस बार दक्षिण एशिया में इतिहास-लेखन की समस्याओं पर यही चर्चा प्रथमा बनर्जी ने की है।

इस बार **संधान** के तहत अविनाश झा ने फ़िलॉलॅजी (शब्दार्थ-विज्ञान) का 'मुक्तिगामी' संस्करण गढ़ने का दावा करने वाले विद्वान शेल्डन पोलॉक से बहस करते हुए ज्ञान-परम्पराओं के महत्त्व को रेखांकित किया है। विपुल मुद्‌गल ने मीडियाटाइज़ेशन के ज़माने में न्यूज़रूम नाम के कारख़ाने में होने वाली गतिविधियों का आलोचनात्मक जायज़ा लिया है। धनंजय कुमार ने भोजपुरी-समाज, प्रवासी लोक-संस्कृति और भिखारी ठाकुर के बिदेसिया पर विस्तृत शोध पेश किया है। इस स्तम्भ में पाठकों को केवल तीन लेख ही मिलेंगे। इसका कारण है मतदान-व्यवहार संबधी शोध-सामग्री को प्रमुखता मिलना। इन ग्यारह लेखों में दस लेख अनूदित हैं, इसलिए इस अंक में अनूदित सामग्री का प्रतिशत अपेक्षाकृत अधिक है। लेकिन, यह अपवादस्वरूप ही है और अगले अंक से ***प्रतिमान*** एक बार फिर पूर्व-समीक्षित सामग्री की प्रमुखता के साथ लौटेगा। **स्मृति-शेष** में इस बार दलित-चिंतक और मराठी के विद्रोही कवि नामदेव ढसाल को याद किया गया है। इस तमाम सामग्री के साथ-साथ तीसरा ***प्रतिमान*** पाँच विद्वत्तापूर्ण और विचारोत्तेजक समीक्षाएँ लेकर भी आया है।